

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 11 अध्याय 10: भोगों की रिक्तता

22 September 2026



भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को अपना उपदेश जारी रखते हैं, आत्मा को शरीर से सदा भिन्न प्रकट करते हुए, कामनाजनित कर्म की व्यर्थता, तथा सांसारिक एवं स्वर्गीय दोनों भोगों की रिक्तता को उजागर करते हुए — क्योंकि स्वर्ग के सुख भी पतन में समाप्त होते हैं, और केवल आत्मज्ञान ही चिरस्थायी मुक्ति देता है।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम में आपका स्वागत है, जो श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं तथा शिक्षाओं के माध्यम से एक भक्तिपूर्ण यात्रा है। पिछले अध्यायों में भगवान् ने अवधूत तथा उसके चौबीस गुरुओं की कथा के माध्यम से वैराग्य तथा समदृष्टि का ज्ञान सुनाया था। अब वे पुनः अपनी वाणी में बोलते हैं, उद्धव को उस ज्ञान के हृदय में ले जाते हुए। वे उन्हें निष्काम भाव से अपने नियत कर्म निभाने, सद्गुरु की निष्ठापूर्वक सेवा करने, तथा देह और चेतन आत्मा के शाश्वत भेद को पहचानने का उपदेश देते हैं। इसके पश्चात् वे निर्भीक दृष्टि से लौकिक और स्वर्गिक, दोनों प्रकार के भोगों की क्षणभंगुरता को उघाड़ते हैं, और दिखाते हैं कि प्रकृति के त्रिगुणों में आबद्ध जीव को स्थायी सुख कभी नहीं मिलता — एकमात्र मुक्ति आत्म-साक्षात्कार में ही निहित है। अन्त में उद्धव इन गूढ़ सत्यों से अभिभूत होकर यह जिज्ञासा प्रकट करते हैं कि आत्मा संसार-बन्धन में कैसे पड़ती है।

अध्याय की जानकारी

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 11 (एकादश स्कन्ध)
- अध्याय: 10 (दशम प्रवचन)
- अध्याय शीर्षक: सांसारिक तथा स्वर्गीय भोगों की रिक्तता
- प्रधान वक्ता: श्रीकृष्ण, उद्धव को उपदेश देते हुए; समस्त सुकदेव गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित को कहा गया
- प्रधान श्रोता: उद्धव; तथा, कथा के ढाँचे में, राजा परीक्षित
- मुख्य स्थान: द्वारका, भगवान् के प्रस्थान की पूर्वसंध्या पर उद्धव के साथ संवाद में
- केन्द्रीय विषय: कामना रहित कर्तव्य-पालन, गुरु की सेवा, शरीर से भिन्न आत्मा, तथा सांसारिक एवं स्वर्गीय दोनों भोगों की रिक्तता
- प्रधान श्लोक-सीमा: स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 1-37
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

पिछले अध्याय का सन्दर्भ

अध्याय 9 में, परिव्राजक अवधूत ने चौबीस गुरुओं का अपना उपदेश पूर्ण किया, दुर्लभ मानव जन्म के उपहार का सम्मान किया और विदा ली, राजा यदु को आसक्ति से मुक्त तथा शान्त छोड़कर। भगवान् ने वह समस्त कथा उद्धव को उस वैराग्य के दर्पण के रूप में सुनाई थी, जिसे अपनाने का वे उन्हें आह्वान कर रहे थे। अब भगवान् अपना उपदेश सीधे पुनः आरम्भ करते हैं, उद्धव को दिखाते हुए कि उस वैराग्य को कैसे जीएँ और क्यों प्रत्येक सांसारिक तथा स्वर्गीय भोग आत्मा में पाई जाने वाली मुक्ति से न्यून है।

कामना रहित कर्तव्य, तथा गुरु की सेवा

भगवान् ने आरम्भ में उद्धव को निर्देश दिया कि जो कर्तव्य उन्होंने सिखाए हैं, उनका निष्ठापूर्वक पालन करें, उनकी शरण लेते हुए तथा अपने वर्ण के अनुरूप आचरण करते हुए, किन्तु उसके फलों की किसी लालसा के बिना।

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।

वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

śrī-bhagavān uvāca mayoditeṣv avahitaḥ sva-dharmeṣu mad-āśrayaḥ varṇāśrama-kulācāram akāmātmā samācaret

अर्थ: भगवान् ने कहा: मेरी शरण लेकर तथा मेरे द्वारा सिखाए कर्तव्यों में सावधान रहकर, स्वार्थपूर्ण कामना से मुक्त व्यक्ति अपने वर्ण, आश्रम तथा कुल के अनुरूप आचरण का पालन करे। (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 1)

इस प्रकार मन को शुद्ध करके, भगवान् ने कहा, उद्भव देखें कि सांसारिक जन, जो इन्द्रिय-सुखों को वास्तविक मानते हैं, उनके कर्म वस्तुतः उनकी अभीष्ट वस्तु का विपरीत फल देते हैं और दुःख में समाप्त होते हैं; क्योंकि गुणों से उत्पन्न अनन्त भेदों का बोध स्वप्न के चित्रों के समान मिथ्या है। भगवान् के भक्त को समस्त विहित कर्तव्य करने चाहिए, किन्तु कामना से प्रेरित प्रत्येक कर्म त्याग देना चाहिए; और जो आत्म-अन्वेषण में पूर्णतः लीन है, उसे विहित कर्मकाण्ड पर भी निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं। साधक को एक शान्त गुरु की सेवा करनी चाहिए जिसने भगवान् को जाना हो, अहंकार, ईर्ष्या, आलस्य तथा ममता से मुक्त, भक्ति में दृढ़, केवल आत्मज्ञान का इच्छुक तथा कभी दोष-दृष्टि या व्यर्थ बातों में न लगने वाला, पत्नी, सन्तान, घर तथा धन में अनासक्त, और सबके प्रति समदृष्टि।

आत्मा शरीर से भिन्न है

तत्पश्चात् भगवान् ने आत्मज्ञान के मूल तत्त्व को उद्घाटित किया: चेतन द्रष्टा अपनी ही ज्योति से प्रकाशित होकर सदैव स्थूल और सूक्ष्म देह दोनों से पृथक् बना रहता है, ठीक उसी तरह जैसे दाहक ज्वाला उस ईंधन से सर्वथा भिन्न है जिसे वह भस्मीभूत करती है।

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।

यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥

vilakṣaṇaḥ sthūla-sūkṣmād dehād ātmekṣitā sva-dṛk yathāgnir dāruṇo dāhyād dāhako 'nyah prakāśakaḥ

अर्थ: स्वयं-प्रकाश आत्मा, द्रष्टा, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से भिन्न है — जैसे अग्नि, जो जलाती तथा प्रकट करती है, उस काष्ठ से भिन्न है जिसे वह भस्म करती है। (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 8)



भगवान् सिखाते हैं कि स्वयं-प्रकाश आत्मा शरीर से सदा भिन्न है — जैसे अग्नि, जो जलाती तथा प्रकाश देती है, उस काष्ठ से भिन्न है जिसे वह भस्म करती है (श्लोक 8)।

तथापि जैसे काष्ठ में प्रवेश करती अग्नि काष्ठ का आकार, परिमाण तथा नश्वरता ग्रहण करती प्रतीत होती है, वैसे ही आत्मा, शरीर में प्रवेश कर, उसके गुण ग्रहण करती प्रतीत होती है; और गुणों से उत्पन्न यह मिथ्या तादात्म्य ही आत्मा के जन्म-जन्मान्तर भटकने का कारण है। यह केवल आत्मा के सच्चे ज्ञान से दूर होता है, जो सावधान अन्वेषण से प्राप्त होता है।

ज्ञान की अग्नि

ऐसा ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, यह दिखाने के लिए, भगवान् ने पावन अग्नि के प्रज्वलन से लिया एक सुन्दर दृष्टान्त दिया, जहाँ दो अरणि-काष्ठ मन्थन से रगड़कर ज्वाला उत्पन्न करते हैं।

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।

तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥ १२ ॥

ācāryo 'raṇir ādyaḥ syād ante-vāsy uttarāraṇiḥ tat-sandhānaṁ pravacanaṁ vidyā-sandhiḥ sukhāvahaḥ

अर्थ: आचार्य नीचे का अरणि-काष्ठ है, शिष्य ऊपर का, और उनके बीच का उपदेश मन्थन है; इस प्रकार उत्पन्न ज्ञान की आनन्दमयी अग्नि कल्याण लाती है। (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 12)



जैसे दो पावन अरणि-काष्ठ मन्थन से अग्नि उत्पन्न करते हैं, वैसे ही भगवान् आचार्य, शिष्य तथा उनके बीच के उपदेश की तुलना उस मन्थन से करते हैं जो ज्ञान की मंगलमय अग्नि जगाता है (श्लोक 12)।

एक सच्चे गुरु से प्राप्त शुद्ध ज्ञान, भगवान् ने कहा, तीन गुणों से बुनी माया को भस्म कर देता है, और उसके साथ स्वयं गुणों को भी; और अन्ततः बुद्धि स्वयं शान्त हो जाती है, उस अग्नि की भाँति जिसका ईंधन चुक गया हो।

सांसारिक भोग की रिक्तता

तत्पश्चात् भगवान् समस्त भोग की खोखलेपन को उजागर करने की ओर मुड़े। विद्वान् भी, क्योंकि वे शरीरों में निवास करते हैं, कोई सच्चा सुख नहीं पाते, और मूर्ख भी दुःख से नहीं बचते; अतः दोनों का अहंकार व्यर्थ है। मनुष्य चाहे कितनी ही चतुराई से सुख पाना तथा दुःख टालना सीख लें, किसी ने मृत्यु से बचने का उपाय कभी नहीं पाया। और मृत्यु के सदा समीप रहते हुए, धन या भोग वास्तव में क्या सुख दे सकता है?

कोऽन्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।

आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥ २० ॥

ko 'nv arthaḥ sukhayaty enaṁ kāmo vā mṛtyur antike āghātaṁ nīyamānasya vadyasyeva na tuṣṭi-daḥ

अर्थ: जब मृत्यु समीप खड़ी हो, तब धन या भोग किसी को वास्तव में क्या प्रसन्न कर सकते हैं? — उतना भी नहीं जितना वध-स्थल की ओर ले जाया जाता दण्डित व्यक्ति किसी वस्तु में आनन्द ले सकता है। (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 20)

स्वर्गीय भोग की रिक्तता

न ही स्वर्ग का आनन्द कुछ भिन्न है, भगवान् ने आगे कहा। सांसारिक सुख की भाँति, वह भी स्पर्धा, ईर्ष्या, हास तथा क्षय से दूषित है, और अनेक विघ्नों से घिरा होकर, प्रायः असफल फसल के समान निष्फल सिद्ध होता है।

श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पार्धासूयात्ययव्ययैः ।

बहन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ २१ ॥

śrutaṁ ca dṛṣṭa-vad duṣṭaṁ spardhāsūyātyaya-vyayaiḥ bahv-antarāya-kāmatvāt kṛṣi-vac cāpi niṣphalam

अर्थ: स्वर्ग का सुख, जिसके विषय में हम सुनते हैं, उन सुखों के समान दूषित है जिन्हें हम देखते हैं — स्पर्धा, ईर्ष्या, हास तथा हानि से कलंकित; और अनेक विघ्नों से घिरा, वह असफल फसल के समान निष्फल सिद्ध होता है। (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 21)



भगवान् प्रकट करते हैं कि स्वर्ग के आनन्द भी दूषित तथा क्षणभंगुर हैं — स्पर्धा तथा क्षय से घिरे, और असफल फसल की भाँति, अन्त में प्रायः निष्फल (श्लोक 21)।

उन्होंने वर्णन किया कि जो यज्ञ करता है तथा देवताओं को प्रसन्न करता है, वह स्वर्ग को उठता है और उसके सुख भोगता है, एक दीप्तिमान् रूप धारण कर, दिव्य साथियों तथा गान के मध्य दिव्य रथ पर विचरता हुआ। तथापि वहाँ क्रीड़ा करते हुए भी, वह अपने आने वाले पतन को नहीं देखता।

तावत् स मोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते ।

क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥ २६ ॥

tāvat sa modate sarge yāvat puṇyam samāpyate kṣīṇa-puṇyaḥ pataty arvāg anicchan kāla-cālitaḥ

अर्थ: वह स्वर्ग में केवल तब तक आनन्द लेता है जब तक उसका पुण्य रहता है; जब पुण्य चुक जाता है, तब वह अपनी इच्छा के विरुद्ध, काल के बल से नीचे धकेला जाकर गिर जाता है। (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 26)



जो पुण्य किसी आत्मा को स्वर्ग तक उठाता है, वह अन्ततः जब चुक जाता है, तब वह पुनः गिर जाती है, अनिच्छुक तथा काल से धकेली — क्योंकि स्वर्गीय आनन्द को भी समाप्त होना है (श्लोक 26)।

जो इसके स्थान पर दुष्टों का संग रखते हैं, अधर्म में रमते हैं तथा अपनी इन्द्रियों पर संयम खो देते हैं, वे निम्न लोकों तथा नीच योनियों में गिरते हैं। शरीर-दर-शरीर धारण करते हुए, मनुष्य ऐसे कर्म करता है जो दुःख लाते हैं, उनके फल के रूप में एक और शरीर धारण करता है, और इस प्रकार संसार में केवल थोड़ा-सा सुख पाता है। ब्रह्माण्ड के महान् लोकपाल भी, और स्वयं ब्रह्मा भी, भगवान् से काल के रूप में भयभीत रहते हैं।

भगवान् काल के रूप में तथा बन्धन का मूल

इन्द्रियाँ, प्रकृति के गुणों से प्रेरित, मनुष्य को कर्म की ओर धकेलती हैं, और देहधारी आत्मा, शरीर एवं इन्द्रियों से तादात्म्य कर, फल भोगती है। जब तक गुणों की विविधता व्याप्त रहती है, एक आत्मा अनेक प्रतीत होती है; जब तक वह अनेक प्रतीत होती है, परतन्त्रता की अवस्था बनी रहती है; और जब तक परतन्त्रता बनी रहती है, तब तक भगवान् के समक्ष भय रहता है। जो गुणों में शरण लेते हैं, वे इस प्रकार मोहित होकर दुःख को प्राप्त होते हैं। भगवान् ने प्रकट किया कि जब गुणों का सन्तुलन सृष्टि में क्षुब्ध होता है, तब वे स्वयं अनेक नामों से जाने जाते हैं।

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।

इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥ ३४ ॥

kāla ātmāgamo lokaḥ svabhāvo dharma eva ca iti mām bahudhā prāhur guṇa-vyatikare sati

अर्थ: काल, आत्मा, शास्त्र, लोक, स्वभाव तथा धर्म — इन अनेक नामों से ज्ञानी मुझे पुकारते हैं, जब प्रकृति के गुण क्रिया में क्षुब्ध होते हैं। (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 34)

उद्धव का प्रश्न

यह सब सुनकर, उद्धव बन्धन के स्वरूप के विषय में एक गहन प्रश्न पूछने को प्रेरित हुए: यदि आत्मा वस्तुतः शरीर से उत्पन्न गुणों से भिन्न है, तो वह उनसे बँधती ही कैसे है?

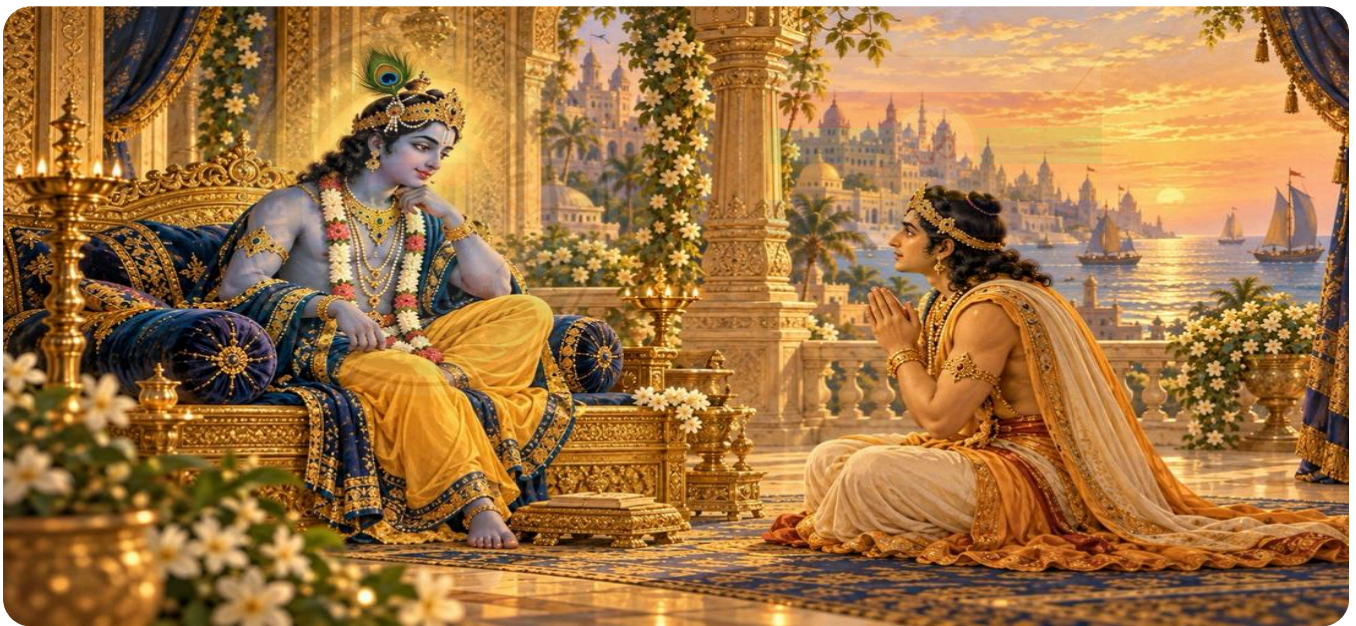
श्रीउद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।

गुणैर्न बध्यते देही बध्यते वा कथं विभो ॥ ३५ ॥

śrī-uddhava uvāca guṇeṣu vartamāno 'pi deha-jeṣv anapāvṛtaḥ guṇair na badhyate dehi badhyate vā katham vibho

अर्थ: उद्धव ने कहा: हे प्रभो, शरीर से उत्पन्न गुणों के मध्य निवास करते हुए भी, देहधारी आत्मा उनसे क्यों नहीं बँधती — अथवा, यदि वह बँधती है, तो ऐसा बन्धन कैसे होता है? (स्कन्ध 11, अध्याय 10, श्लोक 35)



भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर, उद्धव हाथ जोड़कर पूछते हैं कि आत्मा, प्रकृति के गुणों के मध्य निवास करते हुए भी, बन्धन में कैसे आती है — और बद्ध तथा मुक्त को कैसे पहचाना जाए (श्लोक 35)।

उन्होंने आगे पूछा कि एक आत्मा, चाहे बद्ध हो या मुक्त, कैसे आचरण करती है तथा कैसे पहचानी जाती है — कैसे खाती, विश्राम करती, सोती, बैठती तथा चलती है — और भगवान् से, जो सन्देह निवारण में अग्रगण्य हैं, प्रार्थना की कि उनका यह संशय दूर करें कि क्या वही आत्मा एक साथ नित्य-बद्ध तथा नित्य-मुक्त है। इस प्रश्न के साथ प्रवचन समाप्त होता है, और भगवान् का उत्तर आगामी अध्याय का द्वार खोलता है।

इस अध्याय को प्रमुख शिक्षाएँ

1. समर्पण में, कामना रहित होकर अपना कर्तव्य करें। भक्त विहित कर्तव्यों को भगवान् को अर्पण के रूप में करता है, उनके फलों की समस्त लालसा त्यागकर (श्लोक 1-4)।
2. सच्चे गुरु की विनम्रता से सेवा करें। अहंकार, ईर्ष्या तथा ममता से मुक्ति, और एक साक्षात्कारी गुरु की समर्पित सेवा, हृदय को ज्ञान के लिए तैयार करती है (श्लोक 5-7)।
3. आत्मा शरीर नहीं है। जैसे अग्नि उस काष्ठ से भिन्न है जिसे वह जलाती है, वैसे ही स्वयं-प्रकाश आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से सदा भिन्न है; शरीर से मिथ्या तादात्म्य ही समस्त भटकाव का मूल है (श्लोक 8-11)।
4. ज्ञान पावन अग्नि की भाँति प्रज्वलित होता है। आचार्य, शिष्य तथा उनके बीच का उपदेश उस मन्थन के समान हैं जो ज्ञान की मंगलमय अग्नि उत्पन्न करता है, जो माया को भस्म कर देती है (श्लोक 12-13)।
5. सांसारिक तथा स्वर्गीय भोग समान रूप से रिक्त हैं। मृत्यु के सदा समीप रहते हुए, कोई भोग वास्तव में सन्तुष्ट नहीं कर सकता; और स्वर्ग के आनन्द भी पुण्य समाप्त होने पर अनिच्छुक पतन में समाप्त होते हैं (श्लोक 18-26)।
6. बन्धन प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होता है। जब तक आत्मा गुणों से तादात्म्य करती है, वह अनेक तथा परतन्त्र प्रतीत होती है; मुक्ति केवल आत्मज्ञान से आती है (श्लोक 31-34)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

यह अध्याय पहली दृष्टि में कठोर प्रतीत हो सकता है, क्योंकि यह एक के बाद एक सान्त्वना छीन लेता है — संसार के सुख, विद्या का गर्व, यहाँ तक कि स्वर्ग के दीप्तिमान् पुरस्कार भी। किन्तु इसकी कठोरता एक कृपा है। भगवान् आनन्द की निन्दा नहीं कर रहे; वे हमें अपनी आशा वहाँ रखने से मुक्त कर रहे हैं जहाँ वह केवल हमें निराश कर सकती है। जिस प्रत्येक भोग की वे परीक्षा करते हैं, उसमें वही एक दोष है: वह समाप्त होता है। दण्डित व्यक्ति अपनी नियति की ओर चलते हुए आनन्द नहीं ले सकता, और स्वर्ग की आत्मा, अपने समस्त वैभव के बावजूद, आनन्द लेते-लेते चुपचाप गिर रही है। इन क्षणभंगुर वस्तुओं के स्थान पर भगवान् जो देते हैं, वह ऐसा है जो समाप्त नहीं होता — यह ज्ञान कि हम वास्तव में कौन हैं। अग्नि तथा काष्ठ का दृष्टान्त उपदेश में छिपा एक कोमल आश्वासन है: शरीर जो कुछ भोगे या सहे, वह आत्मा जो उसे देखती है, अछूती, प्रकाशमयी, मुक्त रहती है। और उस मुक्ति का मार्ग सुन्दर रूप से विनम्र है — अपना कर्तव्य अर्पण के रूप में करना, उसके चरणों में बैठना जो जानता है, और उपदेश एवं श्रवण के शान्त मन्थन को भीतर एक प्रकाश जगाने देना। यह उचित है कि अध्याय किसी निष्कर्ष से नहीं, अपितु उद्भव के ईमानदार प्रश्न से समाप्त होता है, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन समझने का दिखावा करके नहीं, अपितु विश्वास से, हृदय से पूछकर आगे बढ़ता है।

एक दैनिक भक्ति-अभ्यास

आज, भगवान् की इस शिक्षा का अभ्यास कीजिए कि आत्मा शरीर से भिन्न है। कुछ मिनट शान्त बैठिए और अपने विचारों, संवेदनाओं तथा भावों को आते-जाते धीरे से देखिए, मौन रूप से यह अनुभव करते हुए कि आप वही हैं जो इन्हें देखता है, न कि ये क्षणिक अवस्थाएँ स्वयं — जैसे अग्नि उस काष्ठ से भिन्न है जिसे वह प्रकाशित करती है। तत्पश्चात्, किसी क्षणिक सुख या चिन्ता पर अपनी पकड़ ढीली करके, भीतर

भगवान् की ओर मुड़िए और उनके पवित्र नाम का धीरे से जप कीजिए: “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।” इस सरल सजगता में आप उस मुक्ति का स्वाद लेने लगते हैं जिसकी ओर यह अध्याय संकेत करता है — क्षण भर के लिए भी, प्रकाशमयी साक्षी के रूप में विश्राम करते हुए, उनमें अछूते तथा शान्त।

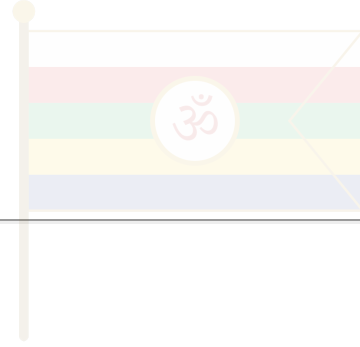
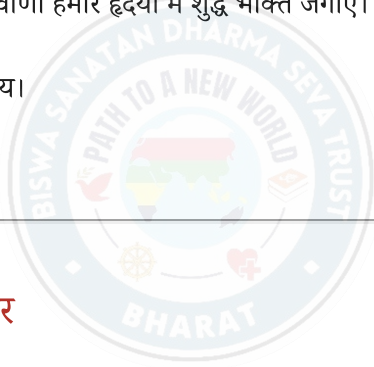
उपसंहार

एकादश स्कन्ध का दशम प्रवचन उद्धव को भगवान् के उपदेश को आत्मज्ञान तथा वैराग्य के हृदय में ले जाता है। श्रीकृष्ण उन्हें समर्पण में तथा कामना रहित होकर अपने कर्तव्य करने, एक साक्षात्कारी गुरु की सेवा करने, और स्वयं-प्रकाश आत्मा को शरीर से सदा भिन्न जानने का आह्वान करते हैं, जैसे अग्नि उस काष्ठ से जिसे वह जलाती है। वे दिखाते हैं कि ऐसा ज्ञान आचार्य तथा शिष्य के बीच एक पावन अग्नि की भाँति प्रज्वलित होता है, और यह गुणों की माया को भस्म कर देता है। तत्पश्चात्, निडरता से, वे प्रत्येक भोग की रिक्तता को उजागर करते हैं: सांसारिक सुख जो सदा मृत्यु से छायांकित हैं, और स्वर्गीय आनन्द जो पुण्य समाप्त होने पर एक अनिच्छुक पतन में समाप्त होते हैं। जब तक आत्मा प्रकृति के गुणों से चिपकी रहती है, वह बद्ध रहती है, अनेक तथा परतन्त्र प्रतीत होती है; मुक्ति केवल आत्मज्ञान में है। अध्याय का समापन तब होता है जब उद्धव, इन सत्यों से प्रेरित होकर, पूछते हैं कि आत्मा बन्धन में कैसे आती है — एक प्रश्न जिसका उत्तर भगवान् आगामी प्रवचन में देंगे।

श्रीमद्भागवतम् की दिव्य वाणी हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति जगाए।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।



सन्दर्भ तथा आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), एकादश स्कन्ध, दशम प्रवचन, पृष्ठ 558–560।
- शृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम • बिस्वा सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा के अनुसार प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, श्रद्धापूर्ण पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दिए गए हैं और उनके अर्थ सारांश रूप में हैं। यह किसी एक प्रकाशक के निरन्तर अनुवाद या टीका का पुनरुत्पादन नहीं है। किसी प्रकाशक से किसी सम्बन्ध या समर्थन का दावा नहीं किया गया है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव

